संवाद

आख़िरकार अभिव्यक्ति का अधिकार है किसका?

मृणाल पाण्डे

ऐसी कितनी ही बातें होती हैं जिनके विषय में हमें जानकारी होनी चाहिए पर हमारी ख़्वाहिश यही रहती है कि उनके बारे में पता न होता तो ही अच्छा था। हर उम्र की महिला और बच्चों के साथ होने वाली घरेलू हिंसा की मौजूदगी इनमें से एक है। इस प्रकार के अमानवीय व्यवहार को सीखने व जायज़ ठहराने के लिए अश्लील साहित्य (पोर्नोग्राफ़ी) का इस्तेमाल एक ऐसी ही दूसरी बात है।

हम एक लम्बे अर्से से इन दोनों बातों के आपसी संबंध को नकारते रहे हैं जबकि इस बात के पुख्ता सबूत मौजूद हैं कि हिंसात्मक यौनिक दमन के आदर्श पुरुष घर में सीखते हैं और फिर समस्त स्त्री जाति की कमतरी को बढ़ावा देने वाले विचारों को अश्लील साहित्य देख-देखकर पालते हैं। हाल ही में होने वाले कुछ नृशंस सामूहिक बलात्कार के मामले एक ऐसा सच्चाई की शिनाख़्त करते हैं जो नारीवादी और अपराध विशेषज्ञ एक लम्बे समय से दोहरा रहे हैं: युवतियों और बच्चियों के साथ हिंसक व्यवहार करने वाले अक्सर इलाके के जाने-माने गुंडे और आदतन अपराधी पुरुष होते हैं। इस तरह के पुरुष अपने साथियों के साथ मिलकर शराब पीते हैं, अश्लील साहित्य देखते हैं, जो उन्हें हिंसक, परभक्षी व्यवहार करने के लिए उकसाने में मदद करता है। इस सबके बावजूद जब भी शराब की बिक्री और अश्लील साहित्य पर प्रतिबंध लगाने की बात उठती है तो भाषा व अभिव्यक्ति तथा उत्तरजीविका कमाने के बुनियादी संवैधानिक अधिकारों की दुहाई देते हुए विरोध के स्वर उठ जाते हैं।

एक मिनट के लिए ज़रा सोचिए— अगर किसी एक जाति या नस्ल के विशिष्ट वर्ग के लोगों पर हिंसा या हत्या को वैध करार देने वाली प्रचार सामग्री खुलेआम मिलने लगे तो क्या हमें धक्का नहीं पहुंचेगा जबकि हम यह भली-भांति जानते हैं कि इस तरह के प्रचार को जाति और जातीय हिंसा की भूमिका बनाने और फिर इसे ज़ायज़ ठहराने के लिए उपयोग में लाया जाता है। तो फिर औरतों व बच्चों के साथ हिंसा के अमानवीय तरीक़े दर्शाने वाले अश्लील साहित्य की आसान उपलब्धि को इससे अलग क्यों रखा जाए और इसकी बिक्री को चालू रखने के लिए संविधान की धारा 19 का हवाला क्या दिया जाए?

क्या यौन व्यापार को वैधता प्रदान करने की मांग को इस आधार पर सही ठहराया जा सकता है कि 'बुरी औरतों' की आसान मौजूदगी पुरुषों की प्राकृतिक यौन आक्रामकता को एक 'निकास' प्रदान करके 'अच्छी औरतों' के लिए सुरक्षा कवच का काम करेगी? क्या एक उदारवादी राज्य में अश्लील साहित्य को खुली छूट दी जानी चाहिए जबकि उसकी कीमत वो महिलाएं चुका रही हैं जिन्हें अपने घरों की चारदीवारी के भीतर खुलकर बोलने की आज़ादी भी नहीं है?

उत्तेजक बनाम अश्लील साहित्य की बहस को लेकर उदार सिद्धांतवादी, फिर चाहे वे पुरुष हों या महिला इस कदर उलझ कर रह गए हैं कि वे इस ओर कोई ध्यान ही नहीं देते कि किस प्रकार अश्लील साहित्य उसी राज्य व नागरिक समाज से पुरुषों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर मौन सहमति का फ़ायदा उठाता है जिनका कहना है कि पीड़ित द्वारा मुंह खोलने पर ही वे आरोपी के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने के बारे में सोच सकते हैं। पुलिस की लापरवाही से शर्मसार होकर सड़कों पर बेहतर सुरक्षा की मांग लेकर उतरने वाले लोग भी खंडित मनस्कता लिए नज़र आए जब उन्होंने यौन हिंसा का शिकार हुई महिलाओं और बच्चों की तरफ से अपराधियों के ख़िलाफ़ राज्य द्वारा तत्काल हस्तक्षेप और कठोर प्रतिशोध की मांग (मुजरिम को सख़्त से सख्त सज़ा मिलनी चाहिए! चौराहे पर फांसी देनी चाहिए!) बुलंद की। वे यह भूल बैठे कि इसी सरकार को "निकम्मा" मानकर वे उनके इस्तीफ़े की भी मांग कर चुके हैं।

सच तो यह है कि राज्य जैसा कि यौन हिंसा पीड़ित अनुभव करते रहे हैं, एक स्वतंत्र स्थाई सच्चाई नहीं है। उसका एक स्पष्ट चेहरा व आवाज़ है— उस एसएचओ के रूप में जो पीड़ित बच्ची के पिता को चुप रहने के लिए रिश्वत देने की कोशिश करता है, या वो एसपी जो एक युवा महिला विरोधकर्ता को थप्पड़ मारता है, एक नेता जो महिला विरोधकर्ताओं के रोष को "लिपी-पुती औरतों" की उपाधि देते हुए नज़रअंदाज़ कर देता है अथवा एक दूसरा सांसद मंत्री जो कहता है कि जब तक कोई औरत पुरुषों को अपनी "आंखों से न्यौता न दे" तब तक उसके साथ कोई छेड़छाड़ नहीं हो सकती!

इस तरह के हाकिमों के सामने क्या सकारात्मक राज्य हस्तक्षेप की कोई भी पुरज़ोर मांग न्याय के तराजू को औरतों व बच्चों के हक़ में डिगा सकती है? क्या पीड़ित और उनके परिवारों को यह विश्वास करने के लिए मनाया जा सकता कि

वे राज्य को अपनी सशक्तता और दर्जे में बदलाव का प्राथमिक साधन समझें? इसी सब के नतीजतन मीडिया द्वारा राज्य पर वर्मा कमेटी के सुझावों को मानकर आपराधिक क़ानून में संशोधन और कार्यान्वयन के लिए एक विशाल दबावपूर्ण अभियान चलाए जाने के बावजूद महिलाएं व लड़कियां आज भी अपनी सुरक्षा को लेकर भयभीत हैं और यौन भक्षकों की शहर की सड़कों और अश्लील साहित्य तक स्वतंत्र पहुंच बरकरार है।

यह सच है कि जेंडर सामाजिक ढांचे की प्रथम रचना है पर हमारे जैसे देश में इसका इतिहास बहुत लम्बा व प्रजातंत्र से पहले का है। आज भी बहुत से लोग बलात्कार की घटनाओं में बढ़त के लिए नई तकनीकों के माध्यम से अश्लील साहित्य के वितरण को दोष देते हैं। वे हमें याद दिलाना चाहते हैं कि एक सदी पूर्व इस पाश्चात्य ढांचे और इसकी नई जानकारी प्रदान तकनीकों के जन्म से पहले हम एक सभ्य सुरक्षित समाज थे। पर वे गलत हैं। टीवी और डीवीडी बेचने वाली दुकानें जला देने से कुछ फ़ायदा नहीं होगा।

भारत में कमज़ोर महिलाओं और बच्चों के प्रति हिंसक और अमानवीय व्यवहार का इतिहास काफी पुराना है। लगभग पचास वर्षों पूर्व कुख्यात ठगों के गैंग हमारे असुरक्षित हाईवे पर घूमते दिखाई पड़ते थे, अनचाही विधवाओं को पति की चिता पर न जलाए जाने पर काशी व वृंदावन रवाना कर दिया जाता था, ग़रीब परिवारों के बच्चे उनके परिवारों द्वारा सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को नीलाम कर दिए जाते थे, मुफ़्त बेगार करने वालों को भारत के हर क्षेत्र में ज़मींदारों व राजाओं के रौंगटे खड़े करने वाले अत्याचारों को सहना पड़ता था।

कालेज जाने वाली लड़कियों की तीन पीढ़ियों की कहानियां दर्शाती हैं कि भारत के हर समुदाय में यौन उत्पीड़न के दर्दनाक वाकये रोज़ाना सुनाई देने वाली घटनाएं हैं। मैंने अनेक ऐसे किस्से सुने हैं जिनमें पहले संयुक्त परिवारों में रहने वाली युवा लड़कियों व विधवाओं को हमेशा किसी पुरुष रिश्तेदार व परिवार के दोस्त की वहशी नज़रों के साये तले ज़िन्दगी बसर करनी पड़ती थी। कुछ लड़कियों को उनकी सजग मांएं वहशी पारिवारिक पुरुषों से बचाकर रख पाती थीं, कुछ के साथ ऐसा नहीं था। पर यौन उत्पीड़न की बात अपनी मां या परिवार के बुजुर्गों से कहने पर सबको एक ही हिदायत दी जाती थी— परिवार के प्रतिशोध और कुंवारे रह जाने के सामाजिक कलंक के डर से वे अपनी ज़ुबान पर ताला लगाने को बाध्य रहें। सच तो यह है कि चूंकि औरतों पर पुरुषों का दमन ज़्यादातर यौनिक होता है इसलिए बलात्कार और अश्लील साहित्य कोई विकृति नहीं है बल्कि यह एक ऐसा उग्र उदाहरण है जिसमें पुरुष बारम्बार औरतों को इस्तेमाल करेंगे और साथ ही उन्हें उस राज्य में अपनी सही जगह दिखाएंगे जिसे उन्होंने अपनी छवि में गढ़ा और नियंत्रित किया है।

चूंकि आधुनिक राज्य पुरुष सत्ता पर निर्मित है जो महिला कामगरों, मांओं, वोटरों की सत्ताहीनता से पोषण पाता है लिहाज़ा औरतों पर पुरुष आधिपत्य स्पष्ट रूप से सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक तौर पर नज़र आता है। कुछ समय पहले ही लोक सभा में विपक्ष की नेता को भी कहते सुना गया कि हाल ही की फेर-बदल मीटिंग में बीजेपी की सर्वोच्च निर्णय समिति में एक भी महिला को शामिल नहीं किया गया। चूंकि भारत में लिंग निरपेक्ष कुछ भी नहीं है और राज्य, थाने से लेकर जंतर-मंतर और विधान सभाओं तक पुरुष सत्ता की अनिवार्य अभिव्यक्ति के रूप में दिखाई पड़ता है, तो वह औरतों के हितों का कैसे ध्यान रख सकता है जिनके नृशंस दमन, सत्ताहीनता और प्रतिभूति ख़ामोशी पर उसके खरबों की कीमत वाले यौन और अश्लील साहित्य उद्योग पनपते हैं?

"पहले पुलिस के पास जाओ" पालिका बाज़ार में अश्लील साहित्य विक्रेता महिला विरोधकर्ताओं पर दहाड़े। वे जानते हैं कि उन्हें मदद कहां से मिलेगी। वे इस बात के प्रति भी सजग हैं कि चाहे क़ानूनी तौर पर राज्य औरतों के अश्लील चित्रण को ठुकराए परन्तु अश्लील साहित्य बिक्री की उन्हें इजाज़त ज़रूर मिल जाएगी, अगर वे पुलिस को आश्वस्त करें कि यह सामग्री सिर्फ़ व्यस्कों को बेची जाएगी।

विडम्बना तो यह है कि वे थानेदार जो लड़कों को 'लड़के ही बने रहने देते हैं', देर रात में सड़कों पर घूमती लड़कियों, पुरुष या महिला मित्रों के साथ पबों में बैठी, अपनी आवाजाही को आसान बनाने के लिए आरामदायक छोटे कपड़े पहने लड़कियों, मशहूर फ़िल्मों में जुर्म को उकसाने वाले, दमन व समर्पण वाले उत्तेजक सीन और भड़कीले "आईटम" गीतों को सबके लिए मनोरंजक समझते हैं। जब तक इस खंडित मनस्कता ग्रस्त राज्य के मूल सिद्धांत पर सवाल नहीं उठेंगे तब तक क्या हम यह मान सकते हैं कि उदार न्यायाधीशों द्वारा संशोधित क़ानून को पूरी तरह लागू करने से समस्या हल हो जाएगी और औरतों के पक्ष में अधिक बेहतर क़ानूनी दलीलें पेश की जा सकेंगी जो हमारे सांसदों से लेकर पुलिस और अदालतों सबको उनके तरीक़ों की खामियां दिखाएंगी?

मृणाल पाण्डे, *हिन्दी साहित्य जगत की मशहूर पत्रकार व लेखिका हैं।*